THE TIMES OF INDIA

Date: 24-11-17

Quota demon

Reservation logic stands inverted as dominant groups have their way

TOI Editorials

After some back and forth, Patidar quota leader Hardik Patel and Congress have finally agreed to a quota formula for Patidars and other non-reserved castes in Gujarat. Congress is hoping this will bring in the promised Patidar support in the coming Gujarat polls. Reportedly, the formula worked out envisages reservations for Patidars under Article 31(C) of the Constitution. The latter clause is the fountainhead for the Ninth Schedule of the Constitution where laws are parked to keep courts from examining their legality. In the present case it means Patidars will be given reservations in government jobs and education under a special category that will allow the state government to breach the 50% cap set by the Supreme Court.

It remains to be seen whether Congress will be able to circumvent the SC-mandated quota cap if it comes to power in Gujarat. After all, the courts have struck down similar attempts by state governments in Rajasthan and Maharashtra to raise quotas beyond the 50% limit for Gujjars and Marathas respectively. Yet, under pressure from various caste groups political parties continue to try and find ways to extend the scope of reservations. Telangana chief minister K Chandrasekhar Rao recently announced his decision to launch a nationwide campaign to seek power for state governments to extend reservation benefits. He wants to increase quotas to 62% in Telangana and is apparently coordinating with other likeminded chief ministers.

Two clear conclusions can be drawn from this state of affairs. First, reservation hasn't worked. Despite being in operation for decades, the very fact that an increasing number of caste groups is demanding quotas shows that reservation as a tool for empowerment has failed. Second, the entire logic of reservation has been inverted with dominant communities demanding quotas. Caste groups that create disturbance, indulge in violence and bring administrations to their knees are able to move political parties to facilitate their reservation claim.If this trend is allowed to continue, every dominant societal group will demand quotas. Perhaps the Rajputs of Rajasthan will be next, having already demonstrated their agitational strength in protesting against the film Padmavati. Taking this forward, reservations in the private sector could be the subsequent target. Should that happen, it would be a disaster for the economy as it would kill the one performing sector that raises hope in the India story. In that sense, Indian leaders should learn from ousted Zimbabwean autocrat Robert Mugabe whose obsession with affirmative action ruined his country. India shouldn't follow the Mugabe model.

Date: 24-11-17

Sarma and Sin

Sadly, Constitution has no remedy for health ministers who misrepresent disease

TOI Editorials

Assam health and finance minister Himanta Biswa Sarma's rationalisation of cancer as "divine justice" for sins committed is callous and insensitive. It may be that there are limits to what governments can do to relieve the suffering of cancer victims. But it doesn't follow that a health minister should proceed to rub salt into their wounds by blaming them for their plight. Rather than withdraw these irrational comments and express regret, Sarma took misplaced refuge in Hindu philosophy and karmic beliefs to hold his ground. In the current political climate where disease is mystified and vaccination is being vilified, science is becoming the casualty.We have seen that politicians often resort to blaming the victim in cases of crimes – such as lynchings by cow vigilantes or assaults on women – as a rationalisation of their own failure to uphold the rule of law. If Sarma's statement is meant to be a rationalisation of state failure in upholding public health, then it is a bizarre extension of the same principle to matters of disease as well. If indeed cancer, and by extension other diseases as well, is punishment for sins committed in past lives, providing public health services is tantamount to disrupting the course of divine justice. And Sarma doesn't need to pay any attention to the health part of his portfolio at all.A recent study reveals that cancer accounts for a much larger percentage of deaths in the 40-69 age group in the northeast compared to other backward states. Incidentally, Assam has the lowest life expectancy and highest disease burden. Sarma himself has bemoaned lack of adequate treatment facilities. As health and finance minister he is in a unique position to remedy this. That he should have chosen to blame cancer sufferers instead is shocking.

दैनिक भास्कर

Date: 24-11-17

दिवालिया पूंजीपतियों पर कड़ाई बरतने की मजबूरी

संपादकीय

केंद्र सरकार ने दिवालिया संहिता(आईबी कोड) में संशोधन के लिए अध्यादेश लाने का एलान करके दिखा दिया है कि कर्ज न अदा करने वालों और कानून में कमजोरी का फायदा उठाने वालों की फितरत सरकार से आगे की रहती है। एक साल पहले आए आईबी कोड के बावजूद दिवालिया कारोबारी कम दाम में दूसरी कंपनियां खरीद रहे हैं और उस पर नियंत्रण कर रहे हैं। यही गुंजाइश अर्थव्यवस्था

को पीछे ढकेल रही है और उसके चलते न सिर्फ अंतरराष्ट्रीय स्तर पर धोखाधड़ी हो रही है बल्कि अर्थव्यवस्था की विकास दर सात और आठ प्रतिशत से घटकर 5.7 प्रतिशत पर आ गई है।

सरकार ने यह तो नहीं बताया है कि आईबी कोड में वह किस प्रकार का संशोधन करेगी लेकिन, उसका मकसद उन लोगों को किसी कंपनी का नियंत्रण प्राप्त करने से रोकना है जो जानबूझकर कर्ज नहीं अदा करते। भारत में बट्टे खाते का कर्ज और पुनर्संयोजित ऋण का परिमाण दस खरब रुपए के आसपास है। ये कंपनियां न सिर्फ एक जगह की रकम दूसरी जगह स्थानांतरित करती हैं बल्कि एक स्थान पर दिवालिया होने के बाद दूसरी कंपनी को खरीद भी लेती हैं। इस मामले में विफल कंपनी का प्रमोटर एकदम नई योजना का प्रस्ताव रखता था और उसे स्वीकार कर लिया जाता था। विजय माल्या का काम इस गोरखधंधे का शास्त्रीय उदाहरण है। देश में माल्या की तरह काम करने वाली 12 ऐसी कंपनियां हैं और जिनके बट्टे खाते का कर्ज 2.5 लाख करोड़ रुपए का है।

उनके बारे में रिजर्व बैंक ने कर्जदाताओं यानी बैंकों और वित्तीय संस्थाओं को लिख दिया था कि वे उन पर कार्रवाई के लिए राष्ट्रीय कंपनी कानून पंचाट(एनसीएलटी) के समक्ष मामले को प्रस्तुत करें। आईबी कोड के आधार पर एनसीएलटी के सामने 300 से ज्यादा मुकदमे दायर भी किए गए लेकिन, पंचाट ने कुछ कंपनियों के विलय की इजाजत दे दी और कुछ में दिवालिया प्रमोटरों को 94 प्रतिशत कम मूल्य पर जायदाद खरीदने की अनुमति। पंचाट और कारोबारी न सिर्फ आईबीकोड के उद्देश्य को धता बता रहे हैं बल्कि सरकार की आंख में धूल भी झोंक रहे हैं। हालांकि कई बैंकरों को आशंका है कि अगर आईबी कोड में संशोधन हुआ तो संभव है कि बैंकरों से मिलकर किसी कर्जदार पर जान-बूझकर दिवालिया होने का आरोप लगाया दिया जाए। इसलिए कानून में जानबूझकर दिवालिया होने को परिभाषित करना भी जरूरी है।

Date: 24-11-17

केवल कार्बन घटाने से धरती का तापमान कम नहीं होगा

ग्लोबल वार्मिंग...हमें यह नहीं बताया गया कि हवा में पहले से मौजूद कार्बनडाइऑक्साइड को भी काफी मात्रा में हटाना होगा तब सुधरेगा पर्यावरण। चिंता की बात यह है कि गैस सोखने की आजमाई हुई टेक्नोलॉजी हमारे पास नहीं है।

पेरिस समझौते का लक्ष्य हासिल करने के लिए हवा से वर्ष 2100 तक 819 अरब टन कार्बनडाइऑक्साइड हटानी होगी। इतनी तो मौजूदा दर पर दुनिया बीस वर्षों में उत्सर्जित करेगी।

दो साल पहले दुनिया ने संकल्प लिया था कि वह धरती का तापमान औद्योगिकीकरण शुरू होने के पहले से काफी कम रखेगी। यानी वृद्धि को 2 डिग्री सेंटीग्रेड से काफी कम कर देगी। मौसम विज्ञानी और जलवायु परिवर्तन के आंदोलनकर्ता खुश हो गए। राजनेताओं ने एक-दूसरे की पीठ थपथपाई। पेरिस समझौते की अस्पष्टता और डोनाल्ड ट्रम्प द्वारा अमेरिका को समझौते से हटाने के फैसले सहित कुछ झटकों के बाद भी बोन में हाल में हुए शिखर सम्मेलन में नेताओं का एक-दूसरे की पीठ थपथपाना जारी है।पेरिस समझौता मानकर चलता है कि दुनिया वायुमंडल में से कार्बनडाइऑक्साइड निकालने का तरीका खोज लेगी। वजह यह है कि गैसों के उत्सर्जन में इतनी कटौती नहीं की जा सकती कि बढ़ता तापमान सफलतापूर्वक थम जाए। लेकिन, इस पर कोई चर्चा ही नहीं है कि पहले से मौजूद कार्बनडाइऑक्साइड को कैसे घटाया जाएगा (सूर्य की रोशनी में बाधा डालकर तापमान घटाने के अधिक क्रांतिकारी उपाय पर

तो और भी कम चर्चा होती है)। जब तक यह नहीं होता, जलवायु परिवर्तन रोकने का वादा टूटना तय है। जलवायु परिवर्तन पर अंतर्सरकारी पैनल के 116 में से 101 मॉडल मानकर चलते हैं कि हवा में से कार्बन निकाल लिया जाएगा ताकि 2 डिग्री का लक्ष्य हासिल किया जा सके। लेकिन, उसके लिए 2100 तक 819 अरब टन गैस हटानी होगी। इतनी तो मौजूदा दर पर दुनिया बीस वर्षों में उत्सर्जित करेगी। यदि आजमाई हुई टेक्नोलॉजी मौजूद भी हो तो भी इतने बड़े पैमाने पर कार्बन हटाने की योजना लागू करना बहुत बड़ा अभियान होगा। जबकि ऐसी टेक्नोलॉजी है नहीं। कुछ बिजली उत्पादन केंद्र और उद्योग कार्बन डाइऑक्साइड को हवा में छोड़ने की बजाय जमीन में संग्रहित करते हैं लेकिन, यह बहुत ही छोटे पैमाने पर होता है। इससे केवल उत्सर्जन कम होता है, प्रक्रिया नहीं उलट जाती, जो हमें चाहिए।फिर क्या हो सकता है? एक विकल्प है अधिक जंगल उगाना, जो कार्बन सोखने का काम करते हैं या सतही जुताई वाले खेतों की जगह गहरी जुताई वाले खेतों को लाया जाए। बायोमास बर्निंग पावर प्लांट्स में कार्बन को इकट्ठा करके संग्रहित करने का काम भी किया जा सकता है। केमिकल फिल्टर के जरिये कार्बन को सीधे हवा से खींचकर स्टोर किया जा सकता है। अथवा खनिजों को पीसकर जमीन और समुद्र में डाला जा सकता है ताकि युगों में होने वाली प्रक्रिया को कुछ वर्षों में संपन्न कराकर कार्बोनेट चट्टानें बनाई जा सके।इनमें कार्बनडाइऑक्साइड कैद हो जाती है। दुनिया की बढ़ती आबादी को भारत के बराबर क्षेत्रफल में पेड़ लगाने या ऊर्जा के लिए फसले उगाने के लिए प्रेरित करना भी असंभव ही लगता है। खेती की पद्धतियां बदलना सस्ता है पर वैज्ञानिकों को शक है कि उससे इतनी भी कार्बनडाइऑक्साइड सोखी जा सकेगी कि खेती से निकली गैस को ही संतुलित कर सके। हवा से सीधे कार्बनडाइऑक्साइड सोखना और कार्बन को चट्टान में बदलने की प्रक्रिया में जमीन ज्यादा नहीं लगती लेकिन, दोनों ही बहुत महंगे उपाय हैं। अक्षय ऊर्जा से दुनिया के लिए काफी हद तक फायदेमंद बिजली बनाई जा सकती है पर अभी किसी को ग्रीनहाउस गैस हटाकर धनी होने का तरीका नहीं मालूम है। जब जरूरत बहुत ज्यादा है, उसका विज्ञान शैशव अवस्था में और व्यावसायिक फायदे नदारद तो दायित्व सरकार और निजी फाउंडेशन्स पर आ जाता है पर वे दायित्व की कसौटी पर खरे नहीं उतर रहे हैं। एक तरीका यह है कि यदि कार्बनडाइऑक्साइड का बड़ा बाजार खड़ा हो जाए तो हवा से इसे निकालने का फायदा इसे प्रोत्साहन देगा। लेकिन, अभी तो इसके उपयोग बहुत सीमित हैं। यदि रेग्यूलेटर ऐसे उद्योगों पर सिंथेटिक ईंधन इस्तेमाल करने का दबाव डालें जो अपने उत्सर्जन को बिजली में नहीं बदल सकते जैसे विमानन उद्योग तो कार्बनडाइऑक्साइड की मांग बहुत बढ़ सकती है, क्योंकि इस ईंधन में यह गैस कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल होती है। यदि बाजार से फायदा न मिले तो सरकारें दे सकती हैं। हमने तो इसके लिए टैक्स लगाने का सुझाव दिया है। मुनाफे के अभाव में जीाश्म ईंधनों से चलने वाले प्लांट से उत्सर्जन घटाने के लिए कार्बन कैप्चर और स्टोरेज अभियान चल नहीं सका। इसके लिए लगने वाला किट बिजली की लागत दोगुना बढ़ा देगा। इसके बाद भी ऊंची दर रखकर कार्बनडाइऑक्साइड घटाने को प्रोत्साहन देंगे तो अर्थव्यवस्था का दम घुट जाएगा। जब तक नीति निर्माता हवा से गैस हटाने को गंभीरता से नहीं लेंगे तब तक पेरिस का वादा और भी खोखला लगेगा।

सब्सिडी का विकल्प है। इसके बिना अक्षय ऊर्जा को पेट्रोल ईंधन से होड़ लेने में अधिक समय लगता। लेकिन, इसमें बर्बादी ज्यादा होती है। जर्मनी ने लो कार्बन वाली बिजली पर 1 खरब डॉलर लगाए और फिर भी वह बिजली की आधी जरूत के लिए कार्बन छोड़ने वाले ईंधन पर ही निर्भर है। इसके बाद भी सरकारें हवा से निकालकर स्टोर की गई हर टन कार्बनडाइऑक्साइड पर पुरस्कार दे सकती है। यह राशि सारे देशों द्वारा मिलकर बनाए कोष से दी जा सकती है। गैसें छोड़ने के इतिहास के आधार पर देश अपना योगदान दे सकते हैं (सबसे ऊपर अमेरिका, यूरोप व चीन आएंगे)। पर व्यावहारिक स्तर पर ऐसा कोई तरीका नहीं है कि देशों से पैसा वसूल किया जा सके।बेशक पेरिस समझौते की खामियों का सामना करना ज्यादातर सरकारों के बस की बात नहीं है। ट्रम्प का अमेरिका तो उत्सर्जन घटाने को ही तैयार नहीं है, फिर हवा से कार्बन सोखने की तो बात ही छोड़ो। अमेरिका साथ भी दे तो समस्या जादुई ढंग से सुलझ नहीं जाएगी। कई धनी देश कह भी रहे हैं कि विकासशील देशों की तुलना में वे बहुत ज्यादा कार्बन कटौती कर रहे हैं। लेकिन हवा से गैस सोखना कोई कम ग्रीनहाउस गैसें छोड़ने का विकल्प नहीं है। यह तो जरूरी होगा ही। जब तक नीति निर्माता हवा से गैस हटाने को गंभीरता से नहीं लेंगे तब तक पेरिस का वादा और भी खोखला लगेगा।

Date: 24-11-17

भारत में चैरिटी की शुरुआत घर से नहीं, बोर्डरूम से

सीएसआर... कई कंपनियां परोपकार के ऐसे कार्यक्रमों में पैसा लगाती हैं, जो उनके बिज़नेस के लिए मददगार हो

अंग्रेजी में कहावत है, चैरिटी बिगिन्स एट होम लेकिन, यदि आप भारतीय बॉस हैं तो चैरिटी बोर्डरूम से शुरू होती है। 2014 से कंपनियों को कानूनन मुनाफे का 2 फीसदी कॉर्पोरेट सोशल रिस्पॉन्सिबिलिटी (सीएसआर) पर खर्च करना होता है। यानी समाज की भलाई का काम करना।टाटा ग्रुप के स्वामित्व वाले चैरिटेबल ट्रस्ट के प्रमुख रतन टाटा इसकी तुलना बिज़नेस पर एक और टैक्स के रूप में करते हैं। सच तो यह है कि कानून कोई फरमान की बजाय इशारा भर है। केवल 5 करोड़ रुपए मुनाफे, 5 अरब रुपए असेट अथवा 10 अरब रुपए के टर्नओवर वाली कंपनियां ही इससे प्रभावित हैं।

व्यावहारिक स्तर पर ज्यादातर कंपनियां इसका पालन करती हैं चाहे आंशिक रूप से ही सही। क्रेडिट रैटिंग कंपनी क्रिसिल द्वारा सूचीबद्ध कंपनियों की स्टडी बताती है कि 2015-16 में 1,100 कंपनियों ने 83 अरब रुपए भलाई के कामों पर खर्च किया है, जो उसके पहले के वर्ष की तुलना में 22 फीसदी अधिक है। यह सरकार के किसी छोटे मंत्रालय के बजट के बराबर है। हालांकि, अमेरिकी कंपनियां सीएसआर पर सालाना 12 अरब डॉलर (7,75 खरब रुपए) खर्च करती हैं, उसकी तुलना में यह बहुत ही कम है। कुछ बिज़नेस केवल स्थानीय स्कूल या अस्पताल को चेक देकर दायित्व पूरा करते हैं।

सबसे अच्छा तरीका है बिज़नेस को मदद देने वाला परोपकार। बैंक और बीमा कंपनियां वित्तीय साक्षरता अभियानों में पैसा लगाती है शायद इस उम्मीद में कि भावी ग्राहक तैयार किए जा सकें। ट्रक निर्माताअशोक लिलैंड ड्राइविंग के लेसन देती है ताकि ड्राइवरों की कमी को भरा जा सके। कंज्यूमर ग्रुप गोदरेज तीन माह का ब्यूटीशियन कोर्स चलाता है। कुछ कंपनियां सरकारी अधिकारियों के निकट जाने की रहा खोज लेती हैं। आधा दर्जन कंपनियां गोशालाओं को पैसा देती हैं, जो प्रधानमंत्री मोदी की हिंदू राष्ट्रवादी पार्टी भाजपा का प्रिय कार्यक्रम है। नेताओं को सीधे पैसा देने पर तो पाबंदी है पर उनसे जुड़े ट्रस्ट को कॉर्पोरेट उदारता का लाभ मिलता है। कुछ कार्यक्रमों में भी पैसा दिया जा सकता है, जैसे गंगा सफाई अभियान। गंगा मोदी के चुनाव क्षेत्र से गुजरती है।सार्वजनिक उपक्रमों का सीएसआर में तिहाई योगदान है। एक अखबार के मुताबिक तेल कंपनियों ने स्टेचू ऑफ यूनिटी को 1.2 अरब रुपए दिए हैं। यह मोदी के गृह राज्य में स्वतंत्रता आंदोलन के नायक सरदार पटेल की प्रतिमा लगाने का प्रोजेक्ट है। इसमें 46 करोड़ डॉलर (करीब 30 अरब रुपए) की लागत आएगी।

नईदुनिया

Date: 24-11-17

साइबर सुरक्षा पर चिंतन

संपादकीय

नई दिल्ली में आयोजित वैश्विक साइबर सम्मेलन (जीसीसीएस- ग्लोबल कॉन्फ्रेंस ऑन साइबर स्पेस) से साइबर सुरक्षा की महत्वपूर्ण चुनौती पुन: चर्चा के केंद्र में आई है। जीसीसीएस का यह पांचवा संस्करण है, लेकिन इसका इतने बड़े पैमाने पर पहले कभी आयोजन नहीं हुआ। पहली बार इसमें 124 देशों के प्रतिनिधि शिरकत कर रहे हैं। इस कॉन्फ्रेंस में 10 हजार से अधिक अंतरराष्ट्रीय नेता, नीति निर्माता, औद्योगिक विशेषज्ञ, थिंक टैंकों के सदस्य और साइबर जानकार आए हैं। आशा है कि इस चर्चा से जो बातें सामने आएंगी, वो खासकर भारत के लिए बहुत उपयोगी होंगी, जहां डिजिटल तकनीक का इस्तेमाल बढ़ाने को सरकार ने अपना मिशन बनाया हुआ है।

भारत सरकार तमाम जरूरी सेवाओं को 'आधार से जोड़ने, बैंकिंग व वित्तीय लेन-देन को अधिक से अधिक डिजिटल तकनीक पर आधारित करने, ई-कॉमर्स को बढ़ावा देने, यहां तक कि शिक्षा में ई-बस्ता और ई-पाठशाला जैसी परियोजनाओं को लागू करने की महत्वाकांक्षी योजनाओं को आगे बढ़ा रही है। इसमें वह तभी सफल हो सकती है, जब इंटरनेट से जुड़े तमाम क्षेत्रों में अभेद्य सुरक्षा सुनिश्चित हो। लेकिन साइबर सुरक्षा का दायरा वैश्विक है। इस तकनीक की प्रकृति ऐसी है कि कहीं बैठा हुआ कोई शख्स किसी दूसरे देश में भी उथल-पुथल मचा सकता है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के इस आह्वान को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए कि हमारे समाज के कमजोर तबके साइबर अपराधियों का शिकार न बन जाएं, विश्व समुदाय को इसे जरूर सुनिश्चित करना चाहिए।

दरअसल, इंटरनेट ने आमजन को असीमित सुविधाएं तो दी हैं, लेकिन इसकी वजह से कई खतरे भी खड़े हुए हैं। उनमें आतंकवादी मकसदों से इस माध्यम का इस्तेमाल भी एक है। जीसीसीएस का उद्घाटन करते हुए मोदी ने इस तरफ ध्यान खींचा। कहा कि डिजिटल स्पेस को आतंकवाद और चरमपंथ की काली ताकतों के खेल का मैदान नहीं बनने दिया जाना चाहिए। भारत के रुख को और स्पष्ट करते हुए सूचना तकनीक मंत्री रविशंकर प्रसाद ने कहा कि भारत इस सम्मेलन के जरिए दो प्रमुख संदेश देना चाहता है- 'सुरक्षित साइबर-सुरक्षित दुनिया और 'समावेशी साइबर-विकसित दुनिया। स्पष्टत: भारत चाहता है कि यह आयोजन साइबर स्पेस पर सार्थक भागीदारी और संवाद का मंच बने। साइबर स्पेस से मोटे तौर पर आशय कंप्यूटर नेटवर्कों के विश्वव्यापी जाल से है। इस नेटवर्किंग के जरिए एक आभासी दुनिया बनी है। यानी एक ऐसा विश्व, जिसका भौतिक अस्तित्व नजर नहीं आता, लेकिन जो आज तमाम संपर्कों का माध्यम है। आज हमारी तमाम गतिविधियां इसी दुनिया के जरिए संचालित हो रही हैं। अपराधी इसमें सेंध लगाकर एक साथ अनगिनत लोगों को नुकसान पहुंचाते हैं, निजता में दखल देते हैं। पिछले वर्ष अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव के बाद सामने आया कि ऐसे अपराधों के सियासी आयाम भी हो सकते हैं। इसलिए साइबर दुनिया को सुरक्षित बनाना आज विश्व की प्राथमिक चुनौती है। नई दिल्ली में आयोजित सम्मेलन को भारत ने इसी तरफ सबका ध्यान खींचने का मौका बनाया है।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 23-11-17

The republic of cowardice

Fragility of community identities spawns politics of intolerance. No one stands up for freedom

Pratap Bhanu Mehta, the writer is vice-chancellor, Ashoka University. Views are personal

The controversy over the film Padmavati once again reminded us that the fragility of our identities, the layers of resentment that constitute our sense of self, the emboldening of the most lumpen elements in our society, intellectual confusions over the law, and the sheer lack of constitutional courage in most of our politicians make India increasingly unfit for liberty.

Let us begin with a couple of traps we need to avoid. Arguments over history should be more or less irrelevant to the question of law and freedom. Some historians have muddied the debate by making the following claim: There is no historical record of Padmini; she is a figment of Jayasi's imagination. At best she is part of cultural memory, not historical truth. Therefore, artistic licence is permissible. But this argument is a trap for three reasons. In an era when state governments are promoting a lot of weird history, it is important to defend protocols that insist on some fidelity to facts. But even as we do this, we have to admit that the modes in which a historical consciousness are expressed in India, and the nature of historical evidence itself, are a lot more complicated than many historians admit. Sometimes cultural memory is the mode in which "facts" are preserved. But we protect free speech so that those claims and counterclaims can be debated.

Second, this argument falls into the trap of pitting "history" versus "cultural memory". If the choice is put that way, there is nothing irrational about saying, "well so much the worse for history, I am fine with cultural memory". It simply shifts the question to an even more intractable question of why history should matter more than cultural memory. It is a very unhistorical move to think that the answer to this question is self-evident. So whether this is history or cultural memory is neither here nor there as far the issue of adjudicating rights and freedom goes. Whether you revere Padmini or whether you are sceptical of the moral and historical claims of her story is irrelevant to your freedoms.

Third, some historians have often fallen into the same trap as their communal counterparts of linking the contemporary project of citizenship to the past. Both sides seem to agree that what rights people have, who belongs to India, must turn on some narrative or facts about medieval India: One side wants to show this is a narrative of benign assimilation. The other side wants to show this a narrative of community conflict and atrocity of which Padmini becomes a totem. In a way, all sides in the argument want to create

a cultural memory serviceable for their political projects. But both sides peg the fate of the modern Indian project, or the freedoms we defend, on "getting history right". But this is a fool's errand. Any nation that ties its liberties or its future to the uncertain, contestable, interpretable debates over medieval history is fated never to grow up. We distort both history and the meaning of citizenship by tying them together so closely.

This is a plain truth we have to understand. In a free society with millions of people, there will be a lot of trash production we do not like. Some will even intend to offend or shock. How much impact they have is not a function of their power; it is a function of our responses. Most politicians betray a deep distrust of their fellow citizens' abilities. This is funnily displayed in the self-contradictory argument used against Sanjay Leela Bhansali: That he made the film, and is keeping the plot secret for box-office gains. Of course it is a truism that hundred and sixty crores is being invested for box-office gains. But what is the anxiety about the box office that politicians have? If the film is popular what will it prove? That Indians don't share the same cultural memory as our politicians? Or that we are quite capable of both revering a cultural memory and seeing new imaginings, even awful ones? In fact, the anxiety about the box office betrays the real truth: Politicians are not representing our sentiments. It is rather that in the name of protecting our sentiments, they wish to control us. The so-called act of democratic deference to people's sentiments is a wish to control the narrative about their identities. The usurper of people's liberties will always speak in the name of their sentiments.

But even more deplorable is the spectacle of chief ministers, cutting across party lines, presenting an astounding spectacle of sheer cowardice, complicity with hoggishness, and a total abdication of their constitutional duties. In a country where mere Facebook likes get you arrested, open incitement to violence elicits no official or legal response. It also reminded us that the Congress is no knight in shining armour in protecting freedom. In fact, it is the politics Congress played around figures like Basavanna in Karnataka, which led to the banning of award-winning novels, as much as the Rushdie affair, that has also set the paradigm for the kinds of protests the Karni Sena is engaged in: Where totems of community identity become figures you cannot write about. Bollywood has commercial interests and it is too embedded in networks of power and patronage to be a genuinely independent voice. But the cowardice and silence of so many of its leading lights is still shocking.

The fragility of our community identities, the layers of resentment that constitute them are spawning a politics of intolerance. Threatening to vandalise property, announcing bounties on actresses is what is now passing off as courage, not standing up for constitutional values. You have to wonder what has happened to the nature of our identity formation where maharajas and the Rajput's sense of pantomime honour get all riled up, when people point out they were on the losing side of history, but none of them has the courage to condemn the desecration of constitutional freedoms. In this newspaper Tarun Vijay wrote: "His (Bhansali's) depictions on celluloid shouldn't make India look as regressive as Saudi Arabia, where women got the right to drive in an era when women from India are sending satellites to Mars". This is an Orwellian inversion. I have no idea what Bhansali has made. But is Bhansali making India look like Saudi Arabia or those who threaten their fellow citizens, and the chief ministers who put up with them? Yes, Padmavati may be sideshow in the context of India's challenges. But it is an ominous one: For it shows India under a weight of suffocating cowardice.

THE HINDU

Date: 23-11-17

Far from keeping the world safe

***Sujatha Byravan*, is a scientist who studies science, technology and development policy.**

Much more needs to be done by the international community to truly grapple with climate change

The 23rd meeting of the Conference of the Parties (COP-23) of the United Nations Framework Convention on Climate Change concluded on November 17 in Bonn, Germany. The two-week meeting was regarded by many as primarily intended to clarify processes for the implementation of the Paris Climate Agreement through the creation of a rule book, with technical guidelines and processes. This would explain what compliance with the Paris Agreement means and how it would be monitored.The key topics of contention were related to financial support, mitigation action, differentiation, and loss and damage — the same knots of disagreements that came up at COP-21 in Paris. The questions raised in Bonn were: Are developed countries going to do their fair share to support poor and emerging countries, having occupied the bulk of the planet's available carbon space? What actions have thus far been taken to reduce greenhouse gas emissions by rich countries? Shouldn't there be greater emphasis to phase out coal? There was also some apprehension about the role of the U.S. in the discussions since President Donald Trump had earlier declared that it would leave the Paris Agreement.

Fulfilling obligations

Actions related to the Paris Agreement are intended for 2020-2030. However, the pre-2020 period is part of the second phase of the Kyoto Protocol. Both the first phase of the Kyoto Protocol (2005-2012) and the second (2013-2020)principally laid out the responsibilities for reducing emissions by rich countries. However, there has been little progress and the 2012 Doha Amendment, the agreement concerning the second phase of the Kyoto Protocol, has not been ratified by a sufficient number of countries to enter into force.Under pressure from poor and emerging economies, actions on the pre-2020 Kyoto period were added to the agenda in the first week of the Bonn meeting. As a result, in 2018 and 2019 there will be additional stocktaking on progress made on the Kyoto Protocol. There will also be climate finance assessments and all of these will be part of the overall process undertaken before 2020. It is reported that several countries have since expressed interest in ratifying the Doha Amendment and all these changes indicate some advancement.

Another aspect of the obligations that need to be fulfilled by big emitters is related to economic and non-economic losses under the work programme on loss and damage. In Warsaw, Poland, COP-19 established the Warsaw International Mechanism for Loss and Damage to address the destruction likely from climate change, including extreme events (such as severe storms) and slow-onset events (such as sea-level rise). This track of negotiations recognised that even if the world were to drastically reduce its emissions, anthropogenic greenhouse gas emissions already in the atmosphere would cause warming. This would

severely affect the poorest countries that are the most vulnerable to the impacts of climate change.It is important that such countries have access to economic and non-economic support, especially since their actions have not led to these increased concentrations of harmful greenhouse gas emissions. The Paris Agreement recognises loss and damage and calls for enhanced action and support from the parties. However, loss and damage was not included in the agenda for the Paris rule book, and this was rightly a big bone of contention with poor and developing economies. There are no funds currently available for this stream and the discussion on this has been postponed to 2018. This is alarming given that the world has already faced the wrath of numerous extreme events just in the last couple of years.

A third aspect of the support from rich countries is about providing finance, technology, and building capacity for poorer countries, both to protect themselves from the effects of climate change and to help them move along a low-carbon pathway. There were conflicts on financial support at various points, and on this topic, COP-23 was a failure. Without the means of implementation, the targets set by each country in Paris will not be achieved. There is also the promise of $100 billion each year by 2020 into the Green Climate Fund, which has not seen much inflow to meet the goal. There was therefore little progress on the key issue of finance and several important decisions were moved forward to be discussed at the next meeting to be held in Katowice, Poland in 2018.There have been a number of advances in renewable energy over the last several years. These were highlighted at various side events at COP-23. There were also several state and substate actors from the U.S. at Bonn, some of whom tried to distance themselves from the actions and statements of the Trump administration, along with a series of colourful protests and interactions.

Progress and actions needed

On the plus side, negotiators did move forward on developing other details for the Paris Agreement implementation, a process that is carried out under the Ad Hoc Working Group on the Paris Agreement and a policy should be ready in 2018. There was also a draft of a document integrating positions from parties on information needed to communicate the Nationally Determined Contributions. Steps were also taken to spell out the details of the global stock-taking that will occur every five years starting in 2023 and on transparency measures that are part of the overall process.

Nevertheless, the science on climate change has been grim this year. Greenhouse gas emissions which appeared to have stabilised for a few years, probably for economic reasons, rose by 2% in 2017, perhaps due to additional electricity drawn from coal power plants in China. When coal will be phased out globally was a major question. In fact, there were protests organised by activists at Europe's largest open pit coal mine near the Hambach Forest in Germany, not far from the COP-23. Clearly, greater ambition on clamping down on fossil fuels is needed for the Paris Agreement to be successful. The Bonn meeting saw the launch of the Powering Past Coal Alliance, which was led by Canada and the U.K., and joined by numerous countries and substate actors.There was small but significant headway made regarding agriculture where a work plan was proposed by Parties on items related to climate change and agriculture, including improvements in soil fertility and carbon, management of land use and livestock maintenance. For India, these developments could be an excellent opportunity for learning from others and sharing local knowledge.Much more needs to be done for the international community to truly grapple with climate change — we are still far from keeping the world safe from its harmful consequences. And for India, there is unfortunately no time left for delaying action on multiple fronts on the landscape of sustainable development, which itself will be derailed by a warming world.

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 23-11-17

आरक्षण की राजनीति

संपादकीय

गुजरात के युवा पाटीदार नेता हार्दिक पटेल ने आगामी विधानसभा चुनाव के लिए अपना समर्थन देकर **कांग्रेस** को एक उम्मीद पकड़ा दी है। बदले में कांग्रेस ने यह आश्वासन दे डाला है कि वह अगर राज्य में सत्ता में आई, तो पाटीदारों को **सरकारी** नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था करेगी। यह घटना चौंकाने वाली **नहीं** है, क्योंकि पिछले कुछ महीनों से जिस तरह की **राजनीति** गुजरात में चल रही थी, उसमें कांग्रेस और हार्दिक पटेल के ऊंटों का इसी करवट बैठना लगभग तय था। कांग्रेस के लिए गुजरात **में** अब कोई और नहीं था और हार्दिक के लिए अब कोई दूसरा ठौर नहीं था। पटेल समुदाय को आरक्षण के लिए पाटीदार अनामत आंदोलन समिति का लंबा आंदोलन चलाने के बाद हार्दिक पटेल ने प्रधानमंत्री नरेंद्र **मोदी** और उनकी पार्टी से इतनी दूरी बना ली थी कि अब उनके पास उस ओर जाने की कोई संभावना ही नहीं बची थी, दूसरा छोर **कांग्रेस** का था, सो उन्हें वहां जाना ही था। दूसरी ओर गुजरात में लगातार कई चुनाव हार चुकी कांग्रेस के पास भी कोई और चारा नहीं था। इस चुनाव में जीत-हार किसकी होती है, अभी न तो यह कहा जा सकता है और न इसकी अटकल लगाने का यह समय है। लेकिन माना यही जा रहा है कि हार्दिक पटेल का समर्थन **मिलने** के बाद कांग्रेस अगर चुनाव में नहीं भी जीतती है, तो कम से कम पहले के मुकाबले ठीक-ठाक मत प्रतिशत तो हासिल कर ही लेगी।

जहां तक पाटीदारों को सरकारी नौकरियों में **आरक्षण** देने का मामला है, तो यह आसान नहीं है और **कांग्रेस** तो जानती ही है, शायद हार्दिक पटेल भी उतनी अच्छी तरह ही समझते होंगे। फिलहाल इतना ही होना है कि कांग्रेस अपने चुनाव घोषणापत्र में आरक्षण का वादा करेगी। इसके आगे उस वादे को पूरा करने में नौ मन तेल वाली शर्त लगी हुई है। मान लीजिए कि यह नौ मन तेल वाली शर्त भी पूरी हो गई और किसी तरह कांग्रेस ने गुजरात **में** सरकार बना ली, तब भी पाटीदारों को आरक्षण के मामले में वह सरकार उसी जगह खड़ी दिखाई देगी, जिस जगह आज जाटों को **आरक्षण** के मामले में राजस्थान और हरियाणा की **सरकारें** खड़ी दिखाई दे रही हैं। दोनों ही जगह जाटों को आरक्षण देने के वादे किए गए थे। कुछ जगहों में चुनाव का यह एक बड़ा मुद्दा भी था। लेकिन बाद में कुछ नहीं हो सका, बावजूद आरक्षण के लिए उग्र आंदोलन के। राज्य सरकारों, मंत्रिमंडलों और विधानसभाओं ने तो अपनी तरफ से बात आगे बढ़ा दी, लेकिन उसका न्यायपालिका में अटक जाना तय था। इसलिए पूरी आशंका यही है कि गुजरात में **पाटीदारों** को आरक्षण की सारी सरगर्मी का हश्र भी आखिर में यही होगा।बेशक, यह इस दौर का एक बड़ा और महत्वपूर्ण मसला है। पूरे देश में वे किसान जातियां, जो एक समय में हरित क्रांति की वाहक बनी थीं और जिन्होंने देश को खाद्य सुरक्षा देने में एक महत्वपूर्ण **भूमिका** निभाई, आज कई तरह के दबाव महसूस कर रही हैं। नई अर्थव्यवस्था **की** खींचतान में खेती उनके लिए घाटे का सौदा बनती जा रही है। ऐसे में, इन जातियों को लगता है कि अगर उन्हें सरकारी नौकरियों **में** आरक्षण मिले, तो उनकी स्थिति कुछ सुधर सकती है। इसके अलावा पिछले एक-दो दशक के राजनीतिक बदलावों ने सत्ता पर **उनकी** पकड़ भी कमजोर की है। लोकतंत्र में कई बार **समस्या** और उसके समाधान अलग होते हैं और उसे लेकर की जाने वाली राजनीति अलग दिशा की ओर बढ़ती दिखती है। यही हरियाणा और राजस्थान में हुआ और यही अब गुजरात में हो रहा है। फिलहाल हम जो देख रहे हैं, वह दलगत राजनीति है और उससे समाधान के **विमर्श** की उम्मीद करना व्यर्थ है।